

## सम्पादकीय

### प्रवचनसार परिशिष्ट : एक अनुशीलन

शून्यनय और अशून्यनय की चर्चा के उपरान्त अब ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय और ज्ञानज्ञेय-द्वैतनय की चर्चा करते हैं

(२४-२५) ज्ञानज्ञेय अद्वैतनय और ज्ञानज्ञेय द्वैतनय

ज्ञानज्ञेयाद्वैतनयेन महदिन्धनभारपरिणतधूमकेतुवदेकम् ॥२४॥  
ज्ञानज्ञेयद्वैतनयेन परप्रतिबिंबसंपृक्तदर्पणवदनेकम् ॥२५॥

आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय से महान ईधनसमूह रूप परिणत अग्नि की भाँति एक है और ज्ञानज्ञेयद्वैतनय से पर के प्रतिबिम्बों से संपृक्त दर्पण की भाँति अनेक है ॥२५॥”

सर्वगत और असर्वगतनय से ज्ञान-ज्ञेय प्रकरण ही चल रहा है। वस्तुतः बात यह है कि भगवान आत्मा का परपदार्थों के साथ ज्ञान-ज्ञेय संबंध के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध तो है ही नहीं, इस ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध की भी क्या स्थिति है - इस बात को ही इन नयों के माध्यम से स्पष्ट किया जा रहा है।

सर्वगत और असर्वगत नयों के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया था कि यह भगवान आत्मा अपने प्रदेशों में सीमित रहकर भी सम्पूर्ण लोकालोक को जान सकता है; जानता है। सम्पूर्ण लोकालोक को जानने के कारण ही इसे सर्वगत कहा जाता है तथा अपने प्रदेशों के बाहर न जाने के कारण आत्मगत अथवा असर्वगत कहा जाता है।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि अपने प्रदेशों के बाहर नहीं जाकर भी जब यह भगवान आत्मा लोकालोक के सम्पूर्ण ज्ञेयों को जानता है तो फिर सम्पूर्ण लोकालोकरूप ज्ञेय ज्ञान में आते होंगे ? तो क्या यह भगवान आत्मा लोकालोकरूप सम्पूर्ण ज्ञेयों से भरा हुआ है ?

इसके उत्तर में शून्य और अशून्य नयों के माध्यम से यह बताया गया है कि किसी भी ज्ञेय पदार्थ ने ज्ञान में प्रवेश नहीं किया; अतः ज्ञान ज्ञेयों से शून्य ही है, खाली ही है; तथापि वे ज्ञेय ज्ञान में ज्ञात अवश्य हुए हैं, यदि ज्ञात होने को ही आना

कहें तो ज्ञान ज्ञेयों से अशून्य है, भरा हुआ है। ज्ञेयों से शून्य कहने से कोई यह न मान ले कि वह ज्ञेयों को जानता ही नहीं; अतः यह कहा गया कि आत्मा ज्ञेयों से अशून्य है, भरा हुआ है। इसीप्रकार अशून्य अर्थात् भरा हुआ कहने से कोई यह न जान ले कि ज्ञेय ज्ञान में प्रविष्ट हो गये हैं, ज्ञान और ज्ञेय एकमेक हो गये हैं; इसलिए यह कहा गया कि आत्मा ज्ञेयों से शून्य है, खाली है।

सर्वगत, असर्वगत, शून्य एवं अशून्य नयों के माध्यम से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह भगवान आत्मा ज्ञेयों को जानता तो है; पर उनमें जाता नहीं, उनमें प्रवेश नहीं करता। इसीप्रकार ज्ञेय ज्ञान द्वारा जाने तो जाते हैं, पर वे ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते। ज्ञान ज्ञान में रहता है और ज्ञेय ज्ञेय में रहते हैं; दोनों के अपने में सीमित रहने पर भी ज्ञान द्वारा ज्ञेय जाने जाते हैं।

इसी वस्तुस्थिति को ये नय इसप्रकार व्यक्त करते हैं कि सब ज्ञेयों को जानने के कारण आत्मा सर्वगत है और ज्ञेयों में न जाने के कारण असर्वगत है तथा ज्ञान में ज्ञेयों के अप्रवेश के कारण आत्मा ज्ञेयों से शून्य है, खाली है और ज्ञेयों को जानने के कारण ज्ञेयों से अशून्य है, भरा हुआ है।

इतना जान लेने पर भी यह जिज्ञासा शेष रह जाती है कि ज्ञान में ज्ञात होते हुए ज्ञेय ज्ञान से भिन्न हैं या अभिन्न हैं; वे ज्ञेय ज्ञान से अद्वैत हैं, एकमेक हैं या द्वैत हैं, अनेक हैं ?

इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए यहाँ कहा जा रहा है कि ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय से ज्ञान में झलकते हुए ज्ञेयपदार्थ ज्ञान से अभिन्न हैं, अद्वैत हैं, एक हैं और ज्ञानज्ञेयद्वैतनय से ज्ञान में झलकते हुए ज्ञेयपदार्थ ज्ञान से भिन्न हैं, द्वैत हैं, अनेक हैं।

जिसप्रकार अनेक प्रकार के ईंधन को जलाती हुई अग्नि उस ईंधन से अभिन्न ही है, एक ही है, अद्वैत ही है; उसीप्रकार अनेक प्रकार के ज्ञेयों को जानता हुआ आत्मा उनसे अभिन्न ही है, एक ही है, अद्वैत ही है - यही कहना है ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय का। यहाँ अभिन्न, एक एवं अद्वैत एकार्थवाची ही हैं।

वस्तुतः यहाँ यह कहना चाहते हैं कि जिसप्रकार जलता हुआ ईंधन अग्नि ही तो है, अग्नि के अतिरिक्त और क्या है ? उसीप्रकार जानने में आते हुए ज्ञेय ज्ञान ही तो हैं, ज्ञान के अतिरिक्त और क्या हैं ?

तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार जलता हुआ ईंधन और अग्नि एक ही हैं, अभिन्न ही हैं, अद्वैत ही हैं; उसीप्रकार जानने में आते हुए ज्ञेय और ज्ञान एक ही हैं, अभिन्न ही हैं, अद्वैत ही हैं।

ज्ञानज्ञेयद्वैतनय का कहना यह है कि जिसप्रकार पदार्थों के प्रतिबिम्बों से संपृक्त दर्पण उन प्रतिबिम्बित पदार्थों से भिन्न ही है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा ज्ञान में झलकते ज्ञेयों से भिन्न ही है।

जिसप्रकार प्रतिबिम्बित पदार्थों से दर्पण की यह भिन्नता ही द्वैतता है, अनेकता है; उसीप्रकार ज्ञान में झलकते ज्ञेयों से भगवान आत्मा की यह भिन्नता ही द्वैतता है, अनेकता है।

इसप्रकार यह भगवान आत्मा ज्ञान में झलकते ज्ञेयों से भिन्न भी है और अभिन्न भी है, एक भी है और अनेक भी है, अद्वैत भी है और द्वैत भी है। तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक ज्ञानज्ञेय-अद्वैतधर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा अपने ज्ञान में झलकनेवाले ज्ञेयों से अभिन्न (अद्वैत) भासित होता है तथा एक ज्ञानज्ञेयद्वैतधर्म भी है, जिसके कारण यह आत्मा अपने ज्ञान में झलकने वाले ज्ञेयों से भिन्न (द्वैत) भासित होता है।

इन ज्ञानज्ञेय-अद्वैत एवं ज्ञानज्ञेयद्वैत धर्मों को विषय बनानेवाले नय ही ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय और ज्ञानज्ञेयद्वैतनय हैं।

इसप्रकार सर्वगत, असर्वगत, शून्य, अशून्य, ज्ञानज्ञेय-अद्वैत तथा ज्ञानज्ञेयद्वैतनयों के माध्यम से आत्मा का परपदार्थों के साथ जो ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध है; उसका स्वरूप भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि यह भगवान आत्मा ज्ञेयों को जानता तो है, पर न तो ज्ञान ज्ञेयों में जाता है और न ज्ञेय ज्ञान में ही आते हैं। दोनों अपने-अपने स्वभाव में सीमित रहने पर भी ज्ञान जानता है और ज्ञेय जानने में आते हैं। ज्ञाता भगवान आत्मा और ज्ञेय लोकालोकरूप सर्व पदार्थों का यही स्वभाव है।

ज्ञाता भगवान आत्मा के उक्त स्वभाव का प्रतिपादन करना ही उक्त छह नयों का प्रयोजन है। ज्ञेयों को सहजभाव से जानना भगवान आत्मा का सहज स्वभाव है। अतः

न तो हमें परपदार्थों को जानने की आकुलता ही करना चाहिए और न नहीं जानने का हठ ही करना चाहिए; पर्यायगत योग्यतानुसार जो ज्ञेय ज्ञान में सहजभाव से ज्ञात हो जावें, उन्हें वीतराग भाव से जान लेना ही उचित है; अन्य कुछ विकल्प करना उचित नहीं है; आकुलता का कारण है। आत्मा के इस सहजज्ञानस्वभाव को ही ये छह नय अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं ॥२४-२५॥

### (२६-२७) नियतिनय और अनियतिनय

नियतिनयेन नियमितौष्ण्यवह्नियतस्वभावभासि ॥२६॥  
अनियतिनयेन नियत्यनियमितौष्ण्यपानीयवदनियतस्वभावभासि ॥२७॥

“आत्मद्रव्य नियतिनय से, जिसकी उष्णता नियमित (नियत) होती है वह ऐसी अग्नि की भाँति नियतस्वभावरूप भासित होता है और अनियतिनय से, जिसकी उष्णता नियति (नियम) से नियमित नहीं है वह ऐसे पानी की भाँति अनियतस्वभावरूप भासित होता है।”

जिसप्रकार उष्णता अग्नि का नियतस्वभाव है; उसीप्रकार भगवान आत्मा का चैतन्यभाव - ज्ञानानन्दस्वभाव नियतस्वभाव है और जिसप्रकार उष्णता पानी का अनियतस्वभाव है; उसीप्रकार राग-द्वेष-मोहरूप अथवा मतिज्ञानादिरूप परिणत होना आत्मा का अनियत स्वभाव है। त्रिकाल एकरूप रहनेवाले स्वभाव को नियतस्वभाव कहते हैं और परिवर्तनशील स्वभाव को अनियतस्वभाव कहा जाता है।

उष्णता अग्नि का त्रिकाल एकरूप रहनेवाला स्वभाव है; अतः वह उसका नियतस्वभाव है। इसीप्रकार चैतन्यभाव-ज्ञानानन्दस्वभाव-जानना-देखना भगवान आत्मा का त्रिकाल एकरूप रहनेवाला स्वभाव है, इसलिए वह भगवान आत्मा का नियतस्वभाव है।

नियत अर्थात् निश्चित, कभी न बदलनेवाला, सदा एकरूप रहनेवाला और अनियत अर्थात् अनिश्चित, निरन्तर परिवर्तनशील।

पानी का नियतस्वभाव तो शीतलता ही है, पर अग्नि के संयोग में आने पर गर्म भी हो जाता है। यह गर्म होना यद्यपि उसका नियतस्वभाव नहीं है, तथापि उसका वह स्वभाव ही न हो - ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि उसके स्वभाव में यदि गर्म होना होता ही नहीं तो वह अग्नि के संयोग में भी गर्म नहीं होता। अग्नि के संयोग में गर्म

होना भी उसके स्वभाव का ही अंग है। उसके इस स्वभाव का नाम ही अनियतस्वभाव है, परिवर्तनशील स्वभाव है, पर्यायस्वभाव है।

अग्नि का गर्म होना उसका द्रव्यगत स्वभाव है; अतः नियतस्वभाव है और पानी का गर्म होना उसका पर्यायगत स्वभाव है; अतः अनियत स्वभाव है। इसीप्रकार भगवान आत्मा का नियतस्वभाव तो चैतन्यभाव ही है, जानना-देखना ही है; पर वह कर्मादिक के योग में रागादिरूप या मतिज्ञानादिरूप या मनुष्यादिरूप भी परिणत हो जाता है। रागादिरूप परिणमित होना भगवान आत्मा का नियतस्वभाव नहीं है; तथापि उसका वह स्वभाव ही न हो - ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि उसके स्वभाव में यदि राग-द्वेष-मोहरूप परिणमित होना होता ही नहीं तो कर्मादिक के योग में भी वह रागादिरूप परिणमित नहीं होता। अतः कर्मादिक के योग-वियोग में रागादिरूप या मतिज्ञानादिरूप परिणमित होना भी उसके स्वभाव का ही अंग है। भगवान आत्मा के इस स्वभाव का नाम अनियतस्वभाव है, परिवर्तनशील स्वभाव है, पर्यायस्वभाव है।

भगवान आत्मा का चैतन्यभावमय होना, ज्ञानानन्दस्वभावरूप होना द्रव्यगत स्वभाव है; अतः नियतस्वभाव है और राग-द्वेष-मोहरूप होना, मतिज्ञानादिरूप होना पर्यायगत स्वभाव है; अतः अनियतस्वभाव है।

एकमात्र परमपारिणामिक भाव आत्मा का नियतस्वभाव है, शेष ह्य औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक एवं औदयिक भाव - आत्मा के अनियतस्वभाव हैं; क्योंकि परमपारिणामिक भाव को छोड़कर शेष कोई भाव त्रिकाल एकरूप नहीं रहते।

भगवान आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेष व मनुष्यादि औदयिकभाव, मतिज्ञानादि क्षयोपशमभाव, केवलज्ञानादि क्षायिकभाव सदा एक से नहीं रहते; कभी राग होता है, कभी द्वेष होता है; कभी राग मंद होता है, कभी तीव्र होता है; कभी आत्मा मनुष्यपर्यायरूप होता है, कभी देवपर्यायरूप होता है; कभी मतिज्ञानी होता है, कभी केवलज्ञानी होता है - यह सब भगवान आत्मा के अनियतस्वभाव के कारण ही होता है। नियतस्वभाव के कारण भगवान आत्मा सदा एकरूप रहता है, एक रहता है और अनियतस्वभाव के कारण सदा बदलता रहता है, परिवर्तनशील रहता है।

तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा का त्रिकालीस्वभाव नियतस्वभाव है और क्षणिकस्वभाव अनियतस्वभाव है। कभी न बदलनेवाला स्वभाव नियतस्वभाव है

और प्रतिसमय बदलनेवाला स्वभाव अनियतस्वभाव है।

सभी पदार्थों के समान भगवान आत्मा भी प्रतिसमय बदलकर कभी नहीं बदलता है और कभी नहीं बदलकर भी प्रतिसमय बदलता रहता है। भगवान आत्मा की इन दोनों विशेषताओं को स्पष्ट करना ही नियतिनय और अनियतिनय का मूल प्रयोजन है।

भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक नियति नामक धर्म भी है और एक अनियति नामक धर्म भी है। नियति नामक धर्म के कारण भगवान आत्मा सदा चैतन्यरूप रहता है, जड़रूप नहीं होता और अनियति नामक धर्म के कारण जड़रूप नहीं होकर भी चिद्विवर्तों में निरन्तर बदलता रहता है।

भगवान आत्मा के इन नियतिधर्म और अनियतिधर्मों को विषय बनानेवाले नय ही क्रमशः नियतिनय और अनियतिनय हैं।

ध्यान रहे कि इन नियतिनय और अनियति नयों का पर्यायों की क्रमबद्धता और अक्रमबद्धता से कोई सम्बन्ध नहीं है ॥२६-२७॥

### (२८-२९) स्वभावनय और अस्वभावनय

स्वभावनयेनानिशिततीक्ष्णकण्टकवत्संस्कारानर्थक्यकारि ॥२८॥  
अस्वभावनयेनायस्कारनिशिततीक्ष्णविशिखवत्संस्कारसार्थक्यकारि ॥२९॥

“आत्मद्रव्य स्वभावनय से, जिसकी किसी के द्वारा नोक नहीं निकाली जाती, ऐसे पौने काँटे की भाँति संस्कारों को निरर्थक करनेवाला है और अस्वभावनय से, जिसकी नोक लुहार के द्वारा संस्कार करके निकाली गई है, ऐसे पौने बाण की भाँति, संस्कार को सार्थक करनेवाला है ॥२८-२९॥”

नियतिनय और अनियतिनय के माध्यम से आत्मा के त्रिकाल एकरूप रहनेवाले नियतस्वभाव एवं नित्य परिवर्तनशील अनियतस्वभाव का दिग्दर्शन करने के उपरान्त अब स्वभावनय और अस्वभावनय के माध्यम से यह बताया जा रहा है कि आत्मा के नियतस्वभाव को संस्कारों द्वारा बदलना संभव नहीं है, पर अनियतस्वभाव को संस्कारित किया जा सकता है।

जिसप्रकार भगवान आत्मा का स्वभाव अग्नि की उष्णता के समान नियत भी है और पानी की उष्णता के समान अनियत भी है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा

स्वभावनय से स्वाभाविक नोकवाले काँटे के समान संस्कारों को निरर्थक करनेवाला भी है और अस्वभावनय से बनाई गई बाण की नोक की भाँति संस्कारों को सार्थक करनेवाला भी है।

यहाँ स्वभावनय और अस्वभावनय को स्वाभाविक नोकवाले काँटे और कृत्रिम नोकवाले बाण के उदाहरण से समझाया जा रहा है।

जिसप्रकार काँटे की नोक किसी ने बनाई नहीं है, असंस्कारित है, अकृत्रिम है, काँटे का मूल स्वभाव है; उसीप्रकार भगवान आत्मा का मूल स्वभाव असंस्कारित है, अकृत्रिम है, किसी का बनाया हुआ नहीं है; उसमें किसी भी प्रकार का संस्कार संभव नहीं है। अतः वह भगवान आत्मा स्वभावनय से संस्कारों को निरर्थक करनेवाला कहा गया है।

तथा जिसप्रकार बाण की नोक लुहार द्वारा बनाई गई है; अतः संस्कारित है, कृत्रिम है; उसीप्रकार भगवान आत्मा के पर्यायस्वभाव में संस्कार किया जा सकता है; अतः अस्वभावनय से भगवान आत्मा संस्कारों को सार्थक करनेवाला कहा गया है।

भगवान आत्मा में स्वभाव नामक एक ऐसा धर्म है, जिसके कारण भगवान आत्मा के द्रव्यस्वभाव को, मूलस्वभाव को अच्छे-बुरे संस्कारों द्वारा संस्कारित नहीं किया जा सकता। आत्मा के इस स्वभाव नामक धर्म को विषय बनानेवाले नय का नाम स्वभावनय है।

जिसप्रकार भगवान आत्मा में एक स्वभाव नामक धर्म है और उसके कारण द्रव्यस्वभाव को संस्कारित किया जाना संभव नहीं है; उसीप्रकार भगवान आत्मा में एक अस्वभाव नामक धर्म भी है, जिसके कारण आत्मा के पर्यायस्वभाव को संस्कारित किया जा सकता है। आत्मा के इस अस्वभाव नामक धर्म को विषय बनानेवाले नय का नाम अस्वभावनय है।

जिस वस्तु का जो मूलस्वभाव होता है, उसमें संस्कारों द्वारा किसी भी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है। करोड़ों उपाय करने पर भी जिसप्रकार अग्नि के उष्णस्वभाव में परिवर्तन किया जाना संभव नहीं है; उसीप्रकार भगवान आत्मा के चेतनस्वभाव में, ज्ञानानन्दस्वभाव में संस्कारों द्वारा किसी भी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है।

तात्पर्य यह है कि वह किसी भी स्थिति में अचेतन नहीं हो सकता।

इसे ही और अधिक स्पष्ट करें तो यह भी कह सकते हैं कि करोड़ों वर्ष तप करने पर भी अभव्य भव्य नहीं हो जाता; इसीप्रकार अनन्तकाल तक अनन्तमिथ्यात्वादि का सेवन करते रहने पर भी कोई भव्य अभव्य नहीं हो जाता; क्योंकि स्वभावनय से आत्मा संस्कारों को निरर्थक करनेवाला है; तथापि मिथ्यादृष्टी, सम्यग्दृष्टी हो सकता है; सम्यग्दृष्टी, मिथ्यादृष्टी भी हो सकता है; क्योंकि अस्वभावनय से भगवान आत्मा के पर्यायस्वभाव को, अनियतस्वभाव को संस्कारित किया जाना संभव है।

यदि भगवान आत्मा में अस्वभाव नामक धर्म नहीं होता तो फिर उसके पर्यायस्वभाव में भी संस्कार डालना संभव नहीं होता, मिथ्यात्व का अभाव कर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का अवसर भी नहीं रहता; इसप्रकार अनन्त काल से अनन्त दुःखी जीवों को अपने अनन्त दुःखों को मेटने का अवसर ही प्राप्त न होता। यह अस्वभाव नामक धर्म भी आत्मा का एक स्वभाव ही है। इसके कारण ही अनादिकालीन कुसंस्कारों का अभाव होकर सुसंस्कार पड़ते हैं। इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि यह भगवान आत्मा स्वभावनय से संस्कारों को निरर्थक करनेवाला है और अस्वभावनय से संस्कारों को सार्थक करनेवाला है ॥28-29 ॥

### (३०-३१) कालनय और अकालनय

कालनयेन निदाघदिवसानुसारिपच्यमानसहकारफलवत्समयायत्त-  
सिद्धिः ॥३०॥ अकालनयेन कृत्रिमोष्मपच्यमानसहकारफलवत्समया-  
नायत्तसिद्धिः ॥३१॥

“आत्मद्रव्य कालनय से गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले आम-फल के समान समय पर आधार रखनेवाली सिद्धिवाला है और अकालनय से कृत्रिम गर्मी से पकाये गये आमफल के समान समय पर आधार नहीं रखने वाली सिद्धिवाला है ॥30-31 ॥”

‘यद्यपि आत्मा के मूलस्वभाव को संस्कारित नहीं किया जा सकता है; तथापि पर्यायस्वभाव को संस्कारित कर मुक्ति प्राप्त की जा सकती है’ - यह बात स्वभावनय और अस्वभावनय के माध्यम से स्पष्ट हो जाने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अस्वभावधर्म के कारण संस्कार को सार्थक करनेवाले इस

आत्मा की सिद्धि किसप्रकार होती है ?

- इस प्रश्न का उत्तर ही अब कालनय-अकालनय एवं पुरुषकार नय-दैनय के माध्यम से दिया जा रहा है।

जिसप्रकार अकृत्रिम गर्मी से पकनेवाला डलपक (डाली पर पकनेवाला) आम पकनेरूप कार्य की सिद्धि के लिए काल पर आधारित है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा अपनी मुक्तिरूप सिद्धि के लिए कालनय से काल पर आधारित है तथा जिसप्रकार कृत्रिम गर्मी देकर पाल में पकाये जानेवाला आम अपने पकनेरूप कार्य की सिद्धि के लिए काल पर आधारित नहीं है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा अपनी मुक्तिरूप सिद्धि के लिए अकालनय से काल पर आधारित नहीं है।

भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक काल नामक धर्म भी है और एक अकाल नामक धर्म भी है। आत्मा के इन काल और अकाल नामक धर्मों को विषय बनानेवाले नय ही क्रमशः कालनय और अकालनय हैं।

प्रश्न - कालनय से तो काल आने पर ही मुक्ति होती है; पर अकालनय से तो समय के पूर्व ही मुक्ति हो जाती है न ? क्या इसका अर्थ यह नहीं हो सकता है कि पुरुषार्थहीनों के कार्य तो काल आने पर ही होते हैं, पर पुरुषार्थी जीव तो अपने पुरुषार्थ द्वारा समय से पहले ही कार्यसिद्धि कर लेते हैं।

उत्तर - नहीं, ऐसा कदापि नहीं होता। कार्य तो सभी स्वकाल में ही होते हैं। अन्य अनन्त धर्मों के समान कालधर्म और अकालधर्म भी सभी आत्माओं में समानरूप से एकसाथ विद्यमान हैं। ऐसा नहीं है कि किसी में कालधर्म हो और किसी में अकालधर्म।

मुक्तिरूपी कार्य भी सभी जीवों के स्वसमयानुसार पुरुषार्थपूर्वक ही होता है। ऐसा कभी नहीं होता कि मुक्ति प्राप्त करने के लिए किसी को तो पुरुषार्थ करना पड़े और किसी को बिना पुरुषार्थ के ही मुक्ति हो जावे। ऐसा भी नहीं होता कि किसी की मुक्ति तो काल आने पर ही हो और किसी की अकाल में ही हो जावे। जितने भी जीवों की मुक्ति आज तक हुई है या भविष्य में होगी, सभी की मुक्ति आवश्यक पुरुषार्थपूर्वक स्वकाल में ही हुई है और होगी भी पुरुषार्थपूर्वक स्वकाल में ही।

कालधर्म और अकालधर्म प्रत्येक आत्मा में प्रतिसमय विद्यमान हैं और

उनके कार्य भी एकसाथ ही होते हैं। अतः मुक्तिरूपी कार्य में कालनय और अकालनय एक ही आत्मा में एकसाथ घटित होते हैं।

‘काल माने समय पर और अकाल माने समय से पहले’ - यहाँ काल और अकाल का यह अर्थ अभीष्ट नहीं है, अपितु ‘काल माने काललब्धि रूप कारण और अकाल माने काललब्धि के अतिरिक्त अन्य पुरुषार्थादिकारण’ - यह अर्थ अभीष्ट है।

यहाँ दिये गये अकृत्रिम गर्मी से पकनेवाले आम एवं कृत्रिम गर्मी से पकनेवाले आम के उदाहरण से भी यही बात सिद्ध होती है; क्योंकि यहाँ अकृत्रिम गर्मी से पकनेवाले आम के पकाव को काल पर आधारित कहा गया है और कृत्रिम गर्मी से पकनेवाले आम के पकाव को अकाल अर्थात् पुरुषार्थादि पर आधारित कहा गया है।

यहाँ यह कदापि अभीष्ट नहीं है कि अकृत्रिम गर्मी से पकनेवाला आम तो समय पर ही पकता है; परन्तु कृत्रिम गर्मी से पकनेवाला आम समय से पहले ही पक जाता है। पकते तो दोनों सुनिश्चित स्वकाल में ही हैं तथा दोनों पकते भी गर्मी के कारण ही हैं। दोनों में से कोई भी आम न तो असमय में ही पकता है और न बिना गर्मी के ही पकता है। अतः दोनों में दोनों ही कारण समान रूप से विद्यमान हैं।

यद्यपि दोनों में ही दोनों कारण समान रूप से विद्यमान हैं; तथापि जब कालनय से कथन करेंगे, तब काल की मुख्यता से बात कही जायगी और जब अकालनय से कथन करेंगे, तब अकाल अर्थात् अन्य पुरुषार्थादि कारणों की मुख्यता से बात कही जायगी।

इसीप्रकार आत्मा की सिद्धि अर्थात् मुक्तिरूपी कार्य पर भी घटित कर लेना चाहिए। मुक्तिरूपी कार्य होता तो पुरुषार्थादि कारणों के साथ समय पर ही है; न तो बिना पुरुषार्थ के होता है और न असमय में ही; पर जब कालनय से बात कही जाती है तो यह कहा जाता है कि कालनय से यह भगवान आत्मा काल पर आधार रखनेवाली सिद्धिवाला है और जब अकालनय से कथन किया जाता है तो यह कहा जाता है कि यह भगवान आत्मा अकाल पर आधार रखनेवाली सिद्धिवाला है अथवा काल पर आधार नहीं रखनेवाली सिद्धिवाला है अथवा पुरुषार्थादि कारणों पर आधार रखनेवाली सिद्धिवाला है ॥30-31 ॥

### (३२-३३) पुरुषकारनय और दैवनय

पुरुषकारनयेन पुरुषकारोपलब्धमधुक्कुक्कुटीकपुरुषकारवादि-  
वद्यत्नसाध्यसिद्धिः ॥३२॥ दैवनयेन पुरुषकारवादिदत्तमधुक्कुक्कुटी-  
गर्भलब्धमाणिक्यदैववादिवद्यत्नसाध्यसिद्धिः ॥३३॥

आत्मद्रव्य पुरुषकारनय से, जिसे पुरुषार्थ द्वारा नीबू का वृक्ष या मधुछत्ता प्राप्त होता है, ऐसे पुरुषार्थवादी के समान यत्नसाध्य सिद्धिवाला है और दैवनय से, जिसे पुरुषार्थवादी द्वारा नीबू का वृक्ष या मधुछत्ता प्राप्त हुआ है और उसमें से जिसे बिना प्रयत्न के ही अचानक माणिक्य प्राप्त हो गया है, ऐसे दैववादी के समान अयत्नसाध्य सिद्धिवाला है ॥32-33 ॥”

‘इस भगवान आत्मा की दुःखों से मुक्ति यत्नसाध्य है या अयत्न साध्य?’ - इस प्रश्न का उत्तर यहाँ पुरुषकारनय और दैवनय के माध्यम से दिया जा रहा है।

यहाँ पुरुषकारनय और दैवनय को पुरुषार्थवादी और दैववादी के उदाहरण से स्पष्ट किया गया है।

किसी पुरुषार्थवादी व्यक्ति ने बड़े यत्न से नीबू के पेड़ उगाये या मधुछत्तों का संग्रह किया। उन पेड़ों से या उन मधुछत्तों में से एक पेड़ या एक मधुछत्ता उसने अपने मित्र दैववादी (भाग्यवादी) को दे दिया। सद्भाग्य से इस दैववादी (भाग्यवादी) को उस नीबू के पेड़ में या मधुछत्ते में एक बहुमूल्य माणिक्य की भी प्राप्ति हो गई।

उक्त घटना को उदाहरण बनाकर यहाँ स्पष्ट किया जा रहा है कि जिसप्रकार पुरुषार्थवादी को तो नीबू के पेड़ों या मधुछत्तों की प्राप्ति बड़े प्रयत्न से हुई है, किन्तु दैववादी को बिना ही प्रयत्न के नीबू का पेड़ और मधुछत्ते के साथ-साथ बहुमूल्य माणिक्य की भी प्राप्ति हो गई; उसीप्रकार यह आत्मद्रव्य पुरुषकारनय से यत्नसाध्य सिद्धिवाला है और दैवनय से अयत्नसाध्य सिद्धिवाला है। इसप्रकार इस भगवान आत्मा की सिद्धि यत्नसाध्य भी है और अयत्नसाध्य भी है।

अनन्तधर्मात्मक इस भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक पुरुषकार अथवा पुरुषार्थ नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह आत्मा यत्नसाध्य सिद्धिवाला है अर्थात् पुरुषार्थ से सिद्धि प्राप्त करनेवाला है और इस भगवान आत्मा में एक दैव नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह आत्मा अयत्नसाध्य सिद्धिवाला है।

ये दोनों धर्म भगवान आत्मा में एकसाथ रहते हैं; अतः वह एकसाथ ही यत्नसाध्य सिद्धिवाला और अयत्नसाध्य सिद्धिवाला है। ऐसा नहीं है कि कभी यत्नसाध्य सिद्धिवाला हो और कभी अयत्नसाध्य सिद्धिवाला। ऐसा भी नहीं है कि कोई आत्मा यत्नसाध्य सिद्धिवाला हो और कोई आत्मा अयत्नसाध्य सिद्धिवाला हो; क्योंकि ये दोनों धर्म एकसाथ ही प्रत्येक आत्मा में रहते हैं। अतः इन्हें एक ही आत्मा में एकसाथ ही घटित होना चाहिए।

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि जब मुक्तिरूपी कार्य सम्पन्न होता है, तब वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्मसन्मुखता के पुरुषार्थपूर्वक ही होता है और उस समय कर्मों का अभाव भी नियम से होता ही है। इसप्रकार उक्त मुक्तिरूपी कार्य की सिद्धि में आत्मा के पुरुषार्थ नामक धर्म का भी योगदान है और दैव नामक धर्म का भी योगदान है।

प्रत्येक व्यक्ति के मुक्तिरूपी कार्य की सिद्धि की वास्तविक स्थिति तो यही है। इसे ही पुरुषकारनय और दैवनय की भाषा में इसप्रकार व्यक्त करते हैं कि यह भगवान आत्मा पुरुषकारनय से यत्नसाध्य सिद्धिवाला है और दैवनय से अयत्नसाध्य सिद्धिवाला है।

इसप्रकार नियतिनय-अनियतिनय, स्वभावनय-अस्वभावनय, कालनय-अकालनय एवं पुरुषकारनय - दैवनय-इन आठ नयों के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि मुक्तिरूपी कार्य की सिद्धि में आत्मा के नियतधर्म-अनियतधर्म, स्वभावधर्म-अस्वभावधर्म, कालधर्म-अकालधर्म एवं पुरुषकारधर्म-दैवधर्म - इन सभी धर्मों का समान योगदान है। प्रकारान्तर से यह कार्यसिद्धि में पंचसमवायों की उपयोगिता का ही विशद व्याख्यान है; क्योंकि उक्त आठ नयों में प्रकारान्तर से स्वभाव, काल, भवितव्य, पुरुषार्थ और निमित्त - ये पाँचों समवाय समाहित हो जाते हैं। जब कार्य होता है, तब ये पाँचों ही समवाय नियम से होते ही हैं और उसमें उक्त आठ नयों के विषयभूत आत्मा के आठ धर्मों का योगदान भी समान रूप से होता ही है। तात्पर्य यह है कि आत्मा की सिद्धि के सम्पूर्ण साधन आत्मा में ही विद्यमान हैं; उसे अपनी सिद्धि के लिए यहाँ-वहाँ झाँकने की या भटकने की आवश्यकता नहीं है।

वस्तुस्थिति यह है कि जब परमपारिणामिक भावरूप नियतस्वभाव के

आश्रय से यह भगवान आत्मा अपने पर्यायरूप अनियतस्वभाव को संस्कारित करता है; तब स्वकाल में कर्मों का अभाव होकर मुक्ति की प्राप्ति होती ही है। तात्पर्य यह है कि परमपारिणामिक भावरूप त्रिकाली ध्रुव आत्मा को केन्द्र बनाकर जब श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र परिणामित होते हैं; तब ज्ञानावरणादि कर्मों का अभाव होकर अनन्तसुखस्वरूप सिद्धदशा प्रगट हो जाती है और इसमें ही उक्त आठ धर्म या आठ नय व पंच समवाय समाहित हो जाते हैं ॥32-33 ॥

### (३४-३५) ईश्वरनय और अनीश्वरनय

ईश्वरनयेन धात्रीहटावलेह्यमानपान्थबालकवत्पारतन्त्र्यभोक्तु ॥३४॥

अनीश्वरनयेन स्वच्छन्ददारितकुरङ्गकण्डीरववत्स्वातन्त्र्यभोक्तु ॥३५॥

“आत्मद्रव्य ईश्वरनय से धाय की दुकान पर दूध पिलाये जानेवाले राहगीर के बालक के समान परतंत्रता को भोगनेवाला है और अनीश्वरनय से हिरण को स्वच्छन्दतापूर्वक फाड़कर खा जाने वाले सिंह के समान स्वतंत्रता को भोगनेवाला है ॥34-35 ॥”

मातृहीन बालकों को अपना दूध पिलाकर आजीविका करनेवाली महिलाओं को धायमाता कहा जाता है। पुराने समय में ऐसी अनेक धायमातायें गाँव-गाँव में दुकान खोलकर बैठती थीं। जिन माताओं के दूध कम होता था, वे मातायें अपने बालकों को या मातृहीन बालकों को उनके परिवारवाले लोग ऐसी धायमाताओं की दुकान पर ले जाकर यथासमय दूध पिला लाते थे।

ऐसे मातृहीन बालक या कम दूधवाली माताओं के बालक जब अपने परिवारवालों के साथ यात्रा पर जा रहे हों, तो उन्हें भूख मिटाने के लिए रास्ते में आनेवाले गाँवों में होनेवाली धायमाताओं की दुकानों पर निर्भर रहना पड़ता था, जिसमें उन्हें भारी पराधीनता रहती थी।

प्रथम तो अपनी माता का दूध पीने जैसी स्वतन्त्रता धायमाता के दूध पर निर्भर रहने में संभव नहीं है; क्योंकि स्वयं की माता जैसा स्वाभाविक स्नेह एवं चाहे जब दूध पीने की सुविधा धायमाता के यहाँ कैसे हो सकती है ? वह तो अपने बालक की आवश्यकता की पूर्ति के उपरान्त शेष बचे दूध को ही, एक निश्चित समय पर ही, किसी दूसरे बालक को पिला सकती है। दूसरे, दुकान पर जाकर पीना भी तो सुविधाजनक नहीं होता।

तीसरे, बालक यदि पथिक का हो तो परतन्त्रता और भी अधिक बढ़ जाती है; क्योंकि भूखे बालक को हर स्थान पर धाय की दुकान मिल जाना सहज संभव तो नहीं है।

इसप्रकार आचार्यदेव ने धायमाता की दुकान पर दूध पिलाये जानेवाले पथिक के बालक के उदाहरण से परतन्त्रता के स्वरूप को अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है।

इस भगवान आत्मा को भी संसार-अवस्था में इसीप्रकार की परतन्त्रता का उपभोग करना पड़ता है। यद्यपि इस परतन्त्रता में कर्मोदय निमित्त होता है; तथापि पर के कारण ही आत्मा को परतन्त्रता भोगनी पड़ती हो - ऐसी बात नहीं है; क्योंकि भगवान आत्मा के पर्याय स्वभाव में ही ऐसी विशेषता पड़ी है कि वह स्वयं कर्माधीन होकर मोह-राग-द्वेषरूप परिणामित होता है और परतन्त्रता को भोगता है।

भगवान आत्मा की इस विशेषता का नाम ही ईश्वरधर्म है और इस ईश्वरधर्म को विषय बनानेवाले नय का नाम ईश्वरनय है। अतः कहा गया है कि यह भगवान आत्मा ईश्वरनय से धाय की दुकान पर दूध पिलाये जानेवाले राहगीर के बालक के समान परतन्त्रता भोगने वाला है।

अनन्तधर्मात्मक इस भगवान आत्मा में ईश्वरधर्म के समान एक अनीश्वर नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा हिरण को स्वच्छन्दतापूर्वक फाड़कर खा जानेवाले सिंह के समान स्वतंत्रता को भोगनेवाला है। इसी अनीश्वर नामक धर्म को विषय बनानेवाले नय को अनीश्वरनय कहते हैं।

ईश्वरनय को धाय की दुकान पर दूध पिलाये जाने वाले पथिक के बालक का उदाहरण देकर समझाया गया था और अब यहाँ हिरण को स्वच्छन्दतापूर्वक फाड़कर खा जानेवाले सिंह का उदाहरण देकर अनीश्वरनय को समझाया जा रहा है।

जिसप्रकार जंगल का राजा शेर जंगल में हिरण को फाड़कर अत्यन्त स्वच्छन्दतापूर्वक उसे खा रहा हो तो उस शेर को कौन रोकनेवाला है ?

उसीप्रकार यह चैतन्यराजा भगवान आत्मा अपने असंख्यप्रदेशी स्वराज्य में अपने आत्मोन्मुखी सम्यक् पुरुषार्थ से अन्तस्वरूप में एकाग्र होकर अत्यन्त स्वतन्त्रतापूर्वक अपने अतीन्द्रिय आनन्द का उपभोग करें तो उसे कौन रोकनेवाला है ?

इसी तथ्य का उद्घाटन इस अनीश्वरनय द्वारा किया जाता है।

अनीश्वर अर्थात् जिसका कोई अन्य ईश्वर न हो। जो स्वयं ही अपना ईश्वर हो, उसे ही यहाँ अनीश्वर कहा है। अनीश्वरनय से इस भगवान आत्मा का कोई अन्य ईश्वर नहीं है, यह स्वयं ही अपना ईश्वर है; इसीलिए यह अनीश्वर है। यह अपने अतीन्द्रिय आनन्द को भोगने में पूर्णतः समर्थ है, स्वाधीन है, ईश्वर है।

ईश्वरनय से यह भगवान आत्मा पराधीनता को भोगनेवाला है और अनीश्वरनय से स्वाधीनता को भोगनेवाला है। इन दोनों नयों का ज्ञान भगवान आत्मा में एकसाथ विद्यमान रहता है। तात्पर्य यह है कि दोनों अपेक्षाएँ उसके प्रमाणज्ञान में समान रूप से प्रतिभासित होती रहती हैं। यद्यपि प्रतिपादन काल में मुख्य-गौण व्यवस्था होती है; तथापि भगवान आत्मा के प्रमाणज्ञान में तो सब-कुछ स्पष्ट रहता ही है।

यहाँ, अनीश्वरनय से तो भगवान आत्मा की स्वाधीनता सिद्ध की ही है, पर ईश्वरनय से भी एकप्रकार से स्वाधीनता ही सिद्ध की है; क्योंकि पराधीनता भोगने का धर्म भी उसके स्वभाव में ही विद्यमान है। तात्पर्य यह है कि कर्म या अन्य निमित्त उसे पराधीन नहीं करते, अपितु वह स्वयं की भूल से ही पराधीन होता है, कर्माधीन होता है, पर का आश्रय लेकर उसे ईश्वरता प्रदान करता है और उसके अधीन होकर दुःख भोगता है।

यदि भगवान आत्मा के स्वभाव में ही इसप्रकार की विशेषता नहीं होती तो उसे कोई पराधीन नहीं कर सकता था। भगवान आत्मा के पर्याय में पराधीन होने के इस स्वभाव का नाम ही ईश्वरधर्म है और इसे जाननेवाला नय ईश्वरनय है।

ध्यान रहे, यह पराधीनता मात्र पर्यायस्वभाव तक ही सीमित है, द्रव्यस्वभाव में इसका प्रवेश नहीं है; क्योंकि द्रव्यस्वभाव तो सदा स्वाधीन ही रहता है। अपने इसी द्रव्यस्वभाव को ईश्वरता प्रदान कर यह भगवान आत्मा स्वाधीनता का उपभोग करता है। भगवान आत्मा के इस स्वाधीन स्वभाव का नाम ही अनीश्वरधर्म है और इसे विषय बनानेवाले नय का नाम अनीश्वरनय है।

इसीलिए यहाँ ईश्वरनय और अनीश्वरनय का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि आत्मद्रव्य ईश्वरनय से धाय की दुकान पर दूध पिलाये जानेवाले राहगीर के बालक के समान परतन्त्रता भोगनेवाला है और अनीश्वरनय से हिरण को स्वच्छन्दतापूर्वक फाड़कर खा जानेवाले सिंह के समान स्वतन्त्रता को भोगनेवाला है ॥३४-३५॥